स्कूली शिक्षा में गुणवत्ता : चाह, चुनौती और राहें

हृदयकान्त दीवान

पिछले दिनों राज्य शैक्षिक प्रबंधन और प्रशिक्षण संस्थान मध्यप्रदेश एवं प्रशासन अकादमी, भोपाल द्वारा हाई स्कूल और उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के प्राचार्यों के लिए एक परिचर्चा आयोजित की गई। इस परिचर्चा में मुख्य वक्ता हृदयकान्त दीवान थे और उन्होंने 'स्कूली शिक्षा में गुणवत्ता के मायने' विषय पर अपने विचार साझा किए। उनके वक्तव्य की मुख्य बातें थीं कि लोकतंत्र में शिक्षा सभी के लिए बराबरी के मौके, न्याय और मानवीयता पैदा करने के लिए है। साथ ही यह कि शिक्षक के प्रति हमारा नजरिया संतुलित होने की ज़रूरत है और शिक्षा तभी शिक्षा है जब वह उपयोगी और अर्थपूर्ण हो। प्रस्तुत लेख इस परिचर्चा को सम्पादित कर तैयार किया गया है। सं.

कंचन जैन* : मैं शिक्षा के बैकग्राउण्ड से नहीं हूँ, लेकिन शिक्षकों के प्रति मेरी जो भावना है वह एक छोटे-से दोहे से बताना चाहूँगी। दोहा कबीरदासजी का है और सदैव मेरा प्रिय रहा है;

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पांए।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताए।।

गुरु की कृपा के बग़ैर आगे बढ़ना बहुत मुश्किल है। गुरु केवल प्रोफेशनली गुरु ही नहीं होते हैं, हमारी माँ, हमारा परिवार, हमारा समाज यह सभी हमारे गुरु हैं। कई बार परिस्थितियाँ भी हमारी गुरु होती हैं परन्तु यहाँ हम बात कर रहे हैं प्रोफेशनल गुरुओं की। इसी सन्दर्भ में कबीरदासजी का एक और दोहा है;

गुरु कुम्हार शिष कुम्भ है, गढ़ि गढ़ि काढ़ै खोट।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट।।

शिक्षक हमारे समाज के एक-एक बच्चे की पर्सनेलिटी को बनाने में, विकसित करने में मदद करते हैं, और आप जैसे सुधी शिक्षकों के सामने मुझे इसके विस्तार में जाने की ज़रूरत नहीं है।

हमने अपने शिक्षकों के माध्यम से शिक्षा प्राप्त की है, जो भी बने हैं अपने गुरुओं के कारण ही बने हैं। एक छोटा-सा उदाहरण देंगे- बोनसाई पौधे की जो थ्योरी है, सिस्टम है उसमें पौधे को अपनी पसन्द का शेप तब देते हैं जब वह बहुत छोटा होता है, कोमल होता है। उसका तना, पत्तियाँ सब कोमल होती हैं तब शेप देना आसान होता है और तभी सम्भव भी होता है। बड़े हो जाने के बाद नहीं दे सकते। बड़े हो जाने के बाद तो शेप देने के लिए उसे केवल काट सकते हैं। दुर्भाग्य से हमारे देश में प्राइमरी स्कूल को, प्राइमरी एजुकेशन को ज़्यादा महत्त्व नहीं देते हैं। हम लोग महत्त्व देते हैं हायर एजुकेशन को, टेक्निकल एजुकेशन को, यूनीवर्सिटी एजुकेशन को और पीएच.डी. करने को। लेकिन जब पौधा सही ही नहीं बना, टेढ़ा हो गया या उसका बीज ही अच्छा नहीं था तो आगे चलकर क्या होगा? और यही शिक्षा में हो रहा है। हमारे एजुकेशन सिस्टम में जो गड़बड़ियाँ आ रही हैं, वह इसी कारण से आ रही हैं। मैं ज्ञानी नहीं हूँ, पर मुझे ऐसा लगता है कि शायद यही कारण हैं। जिन-जिन देशों में

* कंचन जैन आर सी व्ही पी नरोन्हा प्रशासन अकादमी भोपाल की महानिदेशक रही हैं।

प्राइमरी एजुकेशन को महत्त्व दिया जाता है उन देशों की अगली पीढ़ी में बहुत ही डिसिप्लिन बना हुआ है। शिक्षित लोग कौन हैं, शिक्षित किसे कहेंगे यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। ज़रूरी नहीं है कि वे डिग्रीधारी हों, टेक्निकल कोर्स करें, यह करें, वह करें तभी शिक्षित होंगे। यह ना करें, तब भी वह शिक्षित हो सकते हैं। और शिक्षा कैसे पता चलती है? डिग्री से पता नहीं चलती। हमारे पास कुछ क़ाबिलीयत होनी चाहिए। हम समाज के नियमों को मानें, हम एक-दूसरे का ध्यान रखें और हमारा व्यक्तित्व अच्छा बने, इंसान की तरह बनें हम, यही तो शिक्षा के मूल उद्देश्य हैं। डिग्री नहीं होती है शिक्षा।

मुख्य वक्ता : हृदयकान्त दीवान

मुश्किल है, कहाँ से शुरू करूँ? बहुत-सी ऐसी बातें कही गई हैं जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। उन्हें एक बार फिर से दोहराना और समझना बहुत ज़रूरी है।

पहली बात यह कि हमारे समाज में शिक्षक के लिए क्या जगह है? और किस तरह की जगह है? यह एक बड़ा प्रश्न है और यह हर दृष्टि से बड़ा है, चाहे उसकी आर्थिक स्थिति को देखें, प्रशासनिक स्तर पर उसके जो मसले हैं उन्हें निपटाने का मामला है, या फिर बच्चों के मन में उसके लिए क्या स्थान है, क्या इज़्ज़त है आदि। यह समझना बहुत मुश्किल भी है, पर ज़रूरी भी है। ऐसा क्यों है कि एक तरफ़ तो हम यह मानते हैं और मन से मानते हैं कि गोविन्द और गुरु में से गुरु का महत्त्व ज़्यादा है, वही हमें गोविन्द से मिलाने की राह दिखाता है (हालाँकि गोविन्द का रूप अलग-अलग हो सकता है)। दूसरी तरफ़ हमें शिक्षा में काम करने वालों को व प्राचार्यों, अफ़सरों, पालकों, राजनीतिज्ञों, सरकारी नुमाइन्दो, सामान्य जन और ख़ुद शिक्षकों के एक हिस्से को भी ऐसा लगता है कि ऐसे तंत्र बनाने की ज़रूरत है जो लगातार उनपर निगरानी रख सकें। अतः मुझे ऐसा लगता है कि शिक्षा का यह पूरा मसला इन दोनों धाराओं के बीच फँसा है, और हमें इन दोनों धाराओं को समझने की और इनसे जूझने की ज़रूरत है।

कंचन जैन : शिक्षक अपने काम से इसलिए भी असन्तुष्ट रहते हैं कि वह मजबूरी में शिक्षा में आते हैं। बहुत कम लोग ऐसे होंगे जो अपनी पसन्द से शिक्षक बनते हैं।

नीरज दुबे* : मैं आपकी बात से सहमत हूँ लेकिन सौ फ़ीसदी सहमत नहीं हूँ। जो शिक्षक होता है वह दिल से होता है। दबाव या मजबूरी में शिक्षक नहीं बनना चाहिए। यदि मेरे अन्दर पढ़ाने का जज़्बा नहीं है तो मुझे कितना भी पैसा दो तब भी मक्कारी करूँगा, कामचोरी करूँगा। क्योंकि शिक्षण एक धर्म है।

हृदयकान्त दीवान : मुद्दा चिन्तन का है, जिसपर हम सब को चिन्तन करना है। इस वक़्त सबसे बड़ा प्रश्न है कि शिक्षक की उस गरिमा को कैसे वापस लाएँ। साथ ही यह सोचने की भी ज़रूरत है कि अधिकांश बातें जो हम कहते रहे हैं; वह आधा सत्य है, पूरा सत्य नहीं है। ऐसे बहुत से लोग शिक्षक बनते हैं, जो वास्तव में शिक्षक बनना चाहते हैं और ऐसे लोग यहाँ इस परिचर्चा में भी होंगे। ऐसे भी बहुत से लोग हैं जो रेलवे की सर्विसेज़ में जाते हैं, जबकि रेलवे की सर्विसेज़ में जाना नहीं चाहते, वह आईएएस/आईपीएस बनना चाहते हैं। लेकिन रेलवे की सर्विस में उनके साथ वैसा व्यवहार नहीं होता जैसा शिक्षक के साथ होता है। उनकी आत्मछवि भी वैसी नहीं बनती। वैसे भी रेलवे की सर्विस में, पुलिस में, प्रबन्धन आदि में जाने की इच्छा इस कारण से नहीं है कि लोग उन व्यवसायों के बारे में जानते हैं या मन से वहाँ जाना चाहते हैं, वे तो इन व्यवसायों के बारे में समाज में बनी धारणाओं व इनकी चकाचौंध के कारण वहाँ जाते हैं। लेकिन इनमें से कोई भी व्यवसाय उतना भावनात्मक व मानसिक निवेश नहीं माँगता जितना शिक्षक का कार्य माँगता है। हर रोज़ नया कुछ सिखाना है व नया करवाना

* नीरज दुबे आयुक्त, लोकशिक्षण रहे हैं।

है और हर साल बिल्कुल नए समूह से शुरुआत। यह पेशा इन सब नए सम्बन्धों को आत्मीयता व दूरी के बीच सन्तुलन की धार पर रखकर निभाने की अपेक्षा करता है। यह सारे सम्बन्ध सीखने वालों के विकास के साथ-साथ विकसित होकर बदलते जाते हैं और शिक्षक से भी इन सभी के सन्दर्भ में विदित होने व बदलने की अपेक्षा करते हैं। शिक्षक से जो तमाम अपेक्षाएँ हैं वह बहुत बड़ी भी हैं और ज़्यादा भी हैं, और हमें इन अपेक्षाओं में कोई अन्तर्विरोध नज़र नहीं आता है। मुझे लगता है कि शिक्षक के व्यवसाय और काम को थोड़ा और गहराई से समझने की ज़रूरत है।

शिक्षण : अपेक्षाएँ व चुनौतियाँ

यह समझना चाहिए कि शिक्षक का काम बहुत मुश्किल है और वह हर व्यक्ति जिसका स्कूल से सरोकार है, शिक्षक से अलग-अलग अपेक्षाएँ रखता है। साथ ही यह अपेक्षाएँ इतनी अलग-अलग व कहीं-कहीं इतनी विरोधाभासी हैं कि शिक्षक तो क्या कोई भी इंसान आसानी से इन सभी अपेक्षाओं को एक साथ पूरा नहीं कर सकता है। यही वजह है कि हम अपने शिक्षक साथियों को हमेशा कमज़ोर पाते हैं, और मानते हैं कि अगर उन्होंने भी ज़्यादा नम्बर पाए होते तो शायद कुछ और हो गए होते, शिक्षक नहीं होते। हम यह भी जानते हैं कि सभी लोग (जिनमें हमारे साथी भी शामिल हैं) जो ज़्यादा नम्बर पाते हैं, हमेशा ज़्यादा जानते नहीं हैं। नम्बर पाना और विषय की समझ दोनों एक साथ नहीं चलती। इसलिए यह समझना बहुत ज़रूरी है कि शिक्षक और शिक्षा को अगर बदलना है तो उसमें सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी समाज की है। शिक्षक की जिस इज़्ज़त की बात हम कहते हैं, उसको वह इज़्ज़त हम देना शुरू करें।

एक और बात जिस पर सोचने की ज़रूरत है वह यह कि कुछ भी गड़बड़ हो जाए तो हम पूरे शिक्षक समाज को दोष देते हैं, यह कहते हैं कि 'आजकल के शिक्षक ऐसा करने लगे हैं।' यह नहीं कहते कि 'आजकल के डॉक्टर ऐसा करते हैं', और कहते भी हैं तो बहुत कम कहते हैं। क्योंकि डॉक्टर से हमारा ख़ुद का नाता पड़ता है, शिक्षक से हमारा नाता बचपन में ही अधिक था। हम अपने उन शिक्षकों की इज़्ज़त करते हैं, उन्हें याद करते हैं जिन्होंने हमें पढ़ाया (कम से कम कुछ को तो ज़रूर) लेकिन जिन शिक्षकों से हमारे बच्चे पढ़ते हैं, उन शिक्षकों की हम वैसी इज़्ज़त नहीं करते और न ही उनको अपने बच्चों की दृष्टि से देख पाते हैं।

मैं, यहाँ आपसे पालक के रूप में भी बात कर रहा हूँ, क्योंकि हम शिक्षक भी हैं और पालक भी। यह बहुत बड़ी मुश्किल है कि हम अपना बचपन पुन: याद नहीं करते। हम यह भूल जाते हैं कि उस समय भी हमने और हमें पढ़ाने वाले शिक्षकों ने बहुत ग़लतियाँ की होंगी। किन्तु हमें सिर्फ़ यह दिखता था कि शिक्षक हमें पढ़ा रहे हैं। वे हमें कभी मारते भी थे, डाँटते भी थे किन्तु वे हमें प्यार भी करते थे और हम यह सब समझते थे। शिक्षकों का अपने छात्रों के (यानी हमारे) साथ एक घनिष्ठ रिश्ता था।

लेकिन आज हम अपने बच्चे के शिक्षक से या शिक्षकों से बात करते हैं तो उन्हें ऐसे आँकते हैं कि वह अगर ख़ुदा से थोड़ा-सा भी कम हो गए तो वह नालायक़ हो गए। मुझे लगता है कि यह बड़े मसले हैं जिन पर हमें विचार करने की सबसे अधिक ज़रूरत है। हम में से जो प्राचार्य हैं, ख़ासतौर पर उन्हें अपने शिक्षकों के बारे में यह भी सोचने की ज़रूरत है कि हर शिक्षक की अपनी मजबूरी है, अपनी परिस्थिति है, अपनी कार्यकुशलता और कार्य मोटिवेशन है। हम हरेक से उसी मोटिवेशन की अपेक्षा नहीं कर सकते हैं जो हम स्वयं में मानते हैं। अगर हम हरेक को अपने मानदण्डों पर अपनी तरह से आँकेंगे तो लोगों को फ़ेल ही होना है, उनके गुण, उनकी परिस्थिति अलग है। और जो फ़ेल हो गया वह कभी पास नहीं हो सकता। यह बात, जो हम लोग एनसीएफ 2005 के बाद कहने लगे हैं और कुछ हद तक मानने लगे हैं, कि मूल्यांकन तो होना चाहिए,

पास-फ़ेल नहीं होना चाहिए, अतः हमारे साथी जो काम करते हैं, उनका आकलन भी ऐसे ही होना चाहिए। अक्सर हम उस मीटर से उनको नापते हैं जो मीटर उनके लिए उपयुक्त नहीं है। एक बार हमने उनको फ़ेल कर दिया तो उनके लिए पास होना बहुत मुश्किल है। क्योंकि जो सम्बन्ध हम अकसर बना पाते हैं, जो उत्साह हम उनको मिलने पर /उनके कुछ करने पर देख पाते हैं, हम उन्हें फ़ेल करने के बाद नहीं देख पाते। क्योंकि उन्हें बौना कहकर हम उन्हें, वे जो हैं उससे भी बौना कर देते हैं। इससे जो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त सामने आता है वह यह कि– प्राचार्य, कमिश्नर, सेक्रेटरी, चीफ सेक्रेटरी के पद के रूप में शिक्षक के पद की गरिमा को वास्तव में मानना व महसूस कर पाना और यह समझना कि सभी शिक्षक उतने और उस ढंग से मोटिवेटेड शायद नहीं हो सकते हैं जितने मोटिवेटिड हम हैं। पुनः यह पहचानना और तब व्यवहार में व्यक्त करना भी बहुत ज़रूरी है।

यह ज़रूरी नहीं है कि मोटिवेटेड शिक्षकों का विज़न भी उतना बड़ा हो जितना एक चीफ सेक्रेटरी का। सचिव व कमिश्नर को इतने सारे स्कूलों को देखने, व्यापक लोगों से अन्तर्क्रिया करने, कार्य के दौरान पढ़ने व सीखने के लगातार मौक़े मिलते रहते हैं। वे पुस्तकालयों में जाकर पढ़ सकते हैं, सेमिनार में जाकर पूरे ज़िले, प्रदेश, देश की शैक्षिक परिस्थिति, सम्भावना आदि समस्या के बारे में बात करते हैं, एनसीएफ पर चर्चा करते हैं। ऐसे मौक़े एक प्राथमिक अथवा माध्यमिक स्कूल के शिक्षक को नहीं मिलते। एक प्राइमरी स्कूल के शिक्षक के लिए पूरा दिन बच्चों के साथ बिताना ज़रूरी है। बुरा नहीं मानिएगा, शिक्षक के पास इस तरह के बौद्धिक व विचारात्मक विलास की जगह नहीं है। उसके अनुभव के दायरे में वह जो करता है, उसमें वह जो सीखता है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है और उसका महत्त्व हम लोगों को पहचानना और समझना ज़रूरी है। साथ ही उसने जो सीखा है, उसे व्यक्त करने व उस पर मनन करने की जगह देने व इसकी सम्भावना बनाने की ज़रूरत है। यहाँ मैं साथ-साथ यह ज़रूर कहना चाहूँगा कि किसी भी वर्ग में समाज के कुछ अलग तरह के लोग होते ही हैं, लेकिन उन कुछ अलग तरह के लोगों के नाम पर हम उस पूरे वर्ग के साथ, सारे ढाँचे के साथ वैसा ही व्यवहार करें, ग़लत है। मुझे लगता है कि यह ग़लती हम लोग शिक्षक के पेशे के साथ करते रहे हैं, इससे मुश्किलें और बढ़ रही हैं।

शिक्षण : स्वायत्तता और आज़ादी

मुझे याद है और आपको भी याद होगा जब हम स्कूल में पढ़ते थे, हमारे शिक्षक स्वतंत्र थे। वह किताब कौन-सी इस्तेमाल करेंगे, कैसे पढ़ाएँगे, क्या करेंगे, इस पर किसी की निगरानी नहीं थी। उसमें भी अच्छे लोग थे, अच्छे शिक्षक थे, ख़राब शिक्षक भी थे यह हम सब जानते हैं। हम कुछ शिक्षकों के ज़्यादा क़रीब थे, हमें लगता था वह ज़्यादा मेहनत से पढ़ा रहे हैं। कुछ शिक्षक आकर ऐसे ही पढ़ाकर चले जाते थे। लेकिन अगर हम पचास में से, बीस में से, जो दो-चार शिक्षक, इस तरह के हैं, उनके कारण सबके ऊपर नकेल लगाना शुरू करेंगे तो हम में से कोई भी शिक्षक नहीं बनना चाहेगा। अगर विश्वास हटेगा, नकेल लगेगी और सब कुछ निर्देशों के आधार पर करना है तो फिर मैं शिक्षक के रूप में अपने आप कुछ नहीं कर सकता। आप सीबीएसई स्कूल, जो हमारे सबसे अच्छे कहलाने वाले स्कूल हैं, के प्रिंसिपल से पूछें तो वे आपको पूरा कार्यक्रम बताएँगे कि किस दिन, किस कक्षा में, क्या पढ़ाया जाएगा यह पहले से तय है। उसी के हिसाब से सबको चलना है। कई राज्य इस तरह के केन्द्रीयकरण की होड़ में हैं। इस होड़ में फँसने पर यह समझ नहीं आता कि हमें कम्प्यूटर अथवा रोबोट चाहिए या शिक्षक। यह एक और मसला है जिसपर विचार करना चाहिए। शिक्षक की गरिमा के साथ शिक्षक की स्वायत्तता, स्वतंत्रता और शिक्षक की ईमानदारी पर विश्वास किया जाना ज़रूरी है। इस विश्वास के बग़ैर उससे कोई भी अपेक्षा करना उचित नहीं लगता है। जब मानना

यह है कि वह कुछ सोच नहीं सकता, कुछ तय नहीं कर सकता, फिर यह बहुत मुश्किल है कि वह वास्तव में ख़ुद सोचे, ख़ुद अपने उत्साह से, पहल से कुछ करे। और अगर वे यह नहीं करेंगे तो बच्चों को भी ख़ुद से सोचने के, करने के अनुभव नहीं दे सकते। इन दोनों चीज़ों में एक सन्तुलन की ज़रूरत है– हम कैसे और कितनी निगरानी करें, किस बात की निगरानी करें, जिससे स्वायत्तता, पहल और अकादमिक ज़िम्मेदारी तीनों में शिक्षक की भूमिका अहम बनी रहे।

एक और बात समझनी आवश्यक है, बच्चे सिर्फ़ स्कूल में नहीं सीखते, स्कूल आने पर ही सीखना शुरू नहीं करते। हम सभी स्कूल आने से पहले बहुत कुछ जानते थे, वैसे अब यह समझ बनती जा रही है। बच्चा अब कुछ और अधिक समझता है, जानता है और ऐसे बच्चे जो स्कूल में नहीं जा पाते वह भी अपने जीवन की सभी ज़रूरतें पूरी कर पाते हैं। ऐसा नहीं है कि जो स्कूल में नहीं गया वह व्यापार नहीं कर सकता, धन्धा नहीं चला सकता, अपना जीवन नहीं चला सकता। वह यह सब कुछ कर सकता है। इन सबके क्या निहितार्थ हैं? पहली बात यह कि इंसानी बच्चे में सीखने की क्षमता बहुत है, अपरम्पार है, उसका मुक़ाबला नहीं है। दूसरी बात यह कि स्कूल बच्चे को बनाने का एकमात्र साधन नहीं है।

इसके अलावा, जैसा एनसीएफ 2005 में कहा भी है, कि हम मानते हैं कि अगर बच्चा सीख नहीं पाया तो उसमें कहीं न कहीं स्कूल की ज़िम्मेदारी है, और इस पूरे ढाँचे की ज़िम्मेदारी है, यह सब सिर्फ़ शिक्षकों की ही ज़िम्मेदारी नहीं है, पालक की ज़िम्मेदारी नहीं है। ढाँचे को सोचना होगा कि यह बच्चा जो घर में इतना समर्थ है स्कूल में क्यों नहीं सीख पाया। बच्ची जो सुबह उठकर सबके लिए रोटी बना लेती है, घर साफ़ कर लेती है, छोटे भाई-बहनों को सम्भाल लेती है, वह स्कूल में क्यों नहीं पढ़ पाती? इस सवाल का जवाब सोचना पड़ेगा। मैं एक गोल रोटी भी बेल नहीं सकता फिर भी प्रोफ़ेसर हूँ और वह बच्ची जो पढ़ना सीख नहीं पाई वह नालायक़ है। यह जो पूरी विडम्बना है, यह क्यों है। हमारी स्कूली शिक्षा इन बहुत सक्षम बच्चों को ऐसे क्यों अलग-थलग, और दरकिनार कर देती है?

स्कूल में आकर बच्चे क्यों नहीं सीख पाए और क्या नहीं सीख पाए जैसे मसलों पर अगर हम सोचें तो इसकी ज़िम्मेदारी सबसे ज़्यादा सरकारी स्कूलों पर डाली जाती है। क्यों सरकारी स्कूलों पर डाली जाती है? क्योंकि हमारे जैसे पालक जिनके पास कुछ पैसा आ जाता है, कुछ सम्भ्रान्तता आ जाती है उन्हें लगता है कि उनके बच्चे प्राइवेट स्कूल में पढ़ लें, उनको अँग्रेज़ी आनी चाहिए, टाई और बेल्ट लगाएँ आदि। और फिर यह ग़रीब बच्चों के साथ बैठेंगे तो ख़राब बातें ही सीखेंगे, तो किसी प्राइवेट स्कूल में डालें। लेकिन वे बच्चे जो हमारे सरकारी स्कूलों में आते हैं, वे असल में इस देश की रीढ़ हैं। पूरा देश प्रमुख तौर पर इन्हीं से बनता है, और देश की भावना, देश की भूमिका, देश जो कर पाएगा वह इन बच्चों के द्वारा तय होता है।

स्कूल का ढाँचा, मान्यताएँ व आकलन

मैं भी एक ऐसे स्कूल में पढ़ा हूँ जिसे सोसाइटी चलाती थी। हमारे सभी शिक्षकों का वेतन सरकार से आता था। इन स्कूलों में सब बच्चों के साथ जैसा व्यवहार था, जिस-जिस तरह के बच्चे एक साथ आते थे, उनमें जिस तरह के संस्कार मिलते थे, वे संस्कार उन स्कूलों में नहीं मिलते जहाँ एक ही तरह के बच्चे आते हैं। यही वजह है कि इस देश के एक होने का मसला, सरकारी स्कूल के ढाँचे के बने रहने में, उसके फैलने से अहम रूप से जुड़ा है। क्योंकि ग़रीब हो, अमीर हो, किसी भी पृष्ठभूमि के बच्चे हों वे वहाँ बैठकर पढ़ते हैं, खेलते हैं, एक-दूसरे से बातचीत करते हैं। यह महत्त्वपूर्ण संस्थान हैं, हम सब को यह समझकर इनको सपोर्ट करने की ज़रूरत है।

अकसर हम लोग सुनते हैं कि सरकारी स्कूलों के बच्चे सीखते नहीं हैं, प्राइवेट स्कूल के बच्चे सीखते हैं। इन सभी आँकड़ों का विश्लेषण किया जाए, तो उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यदि हम बच्चों की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर दोनों स्कूलों के आँकड़ों को देखें तो सरकारी स्कूल में बच्चे कम नहीं सीखते हैं। असल में हमारा माप बहुत सीमित है, विषयों के सीखने को ही हम मापते हैं। इनके अलावा बच्चे सरकारी स्कूल में क्या-क्या और भी पॉजिटिव चीज़ें सीखते हैं, उनकी बात हम नहीं करते हैं। ना ही यह बात करते हैं कि प्राइवेट स्कूल में बच्चे क्या-क्या ऐसी और चीज़ें सीखते हैं जिनको शायद सीखने की ज़रूरत ही नहीं है।

मुझे लगता है कि यह एक तरह का प्रचार है कि सरकारी स्कूल फ़ेल हो गए हैं, सरकारी स्कूलों को बन्द कर देना चाहिए। स्कूलों का निजीकरण कर देना चाहिए, यह एक भ्रामक कथन है। इस कथन का हमें पुरज़ोर विरोध करना है और यह करके दिखाना है कि सरकारी स्कूल फिर से समाज में वह स्थान हासिल कर सकते हैं जो हमारे ज़माने में होता था। क्योंकि हमारे ज़माने में प्राइवेट स्कूलों में हमारी पृष्ठभूमि के सब बच्चे नहीं जाते थे।

इसमें दो बातें इम्पोर्टेण्ट हैं; एक तो 'असर' के समकक्ष ही कुछ अन्य रिपोर्टों की बात मैं यहाँ कर रहा हूँ।

इन रिपोर्टों में यह देखने की कोशिश नहीं है कि सरकारी और प्राइवेट स्कूल के आँकड़ों को एक ही तरह से बच्चों की पृष्ठभूमि के आधार पर मैप करके उनका अध्ययन करें। और फिर उन रिजल्ट्स को विश्लेषित करें तो पाएँगे कि उनमें भी कोई फ़र्क़ नहीं है।

इसके अलावा स्कूल में जो हो रहा है, उसे देखने का 'असर' का और हम लोगों का नज़रिया अलग-अलग हो सकता है। इसलिए इस बारे में, कोई टिप्पणी मैं यहाँ नहीं करना चाहता हूँ। यह एक विस्तृत मतभेद का मसला है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात जो इससे जुड़ी है और ज़रूरी है, वह यह है कि हम शिक्षा को समझते कैसे हैं? अगर हम समझते हैं कि अक्षर पढ़ना, अंक पढ़ना और ऐसे और टुकड़े हासिल करना ही शिक्षा है तो 'असर' व उस जैसी अन्य रिपोर्टों को ज़्यादा गहराई से पढ़ना पड़ेगा व ज़्यादा महत्त्व देना होगा। अच्छी बात यह है कि आज हमारा देश यह कर रहा है। हम यह समझ लें कि शिक्षण व शिक्षा, सम्पूर्ण व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया है, तब हमें 'असर' की रिपोर्ट को नज़रन्दाज़ कर देना चाहिए। क्योंकि 'असर' की रिपोर्ट इस बात को ही देखती है कि वह लड़की जो स्कूल में आई, उसने प्राथमिक स्तर के अक्षरों को जानने, अंकों को जानने में क्या नहीं हासिल किया। वह यह नहीं देखती कि उसने वहाँ क्या पाया। अगर हम समझ के विकास को न देखकर अक्षरों व अंकों को ही देखेंगे तो फिर से हम एक और बहुत बड़ी भूल करेंगे, वैसे यह भूल हम लगातार कर रहे हैं। हम लोग शिक्षा को बहुत कम आँकते हैं और उसके महत्त्व को और कम कर रहे हैं। हम सब यही नापने में लगे हैं कि बच्चे ने कक्षा 1 के अन्तर्गत कितने अक्षर सीखे। यह क्यों सही नहीं है इसके लिए मैं आपको एक उदाहरण देना चाहूँगा।

बोलने की दृष्टि से देखें तो, दो साल का कोई एक बच्चा पहले बोलना शुरू करता है कोई बाद में शुरू करता है। कोई बच्चा दो साल तक आते-आते भी बहुत कम बोलता है लेकिन तीन-साढ़े-तीन साल तक आते-आते सामान्य तौर पर कोई ऐसा बच्चा नहीं रहता जो आपको अपनी बातों से हतप्रभ न कर दे। आप यह सोचने लगते हैं कि वह चुप क्यों नहीं होता, हर चीज़, हर जगह बोलता है। आप यह देखकर भी हैरान रह जाते हैं कि वह क्या-क्या समझता है, और तो और आप जो उसको नहीं समझाना चाहते वह उसे भी जानता है। इसका मतलब यह हुआ कि बच्चों की सीखने की गति का कोई एक निश्चित समय नहीं है, उतना निश्चित समय नहीं है जितना निश्चित समय इस बात के लिए ज़रूरी है जो बता सके कि छह महीने तक

बच्चे ने दो शब्द सीखे होंगे या चार। या फिर वह कौन-कौन सी आवाज़ें निकाल सकेगा। इसी तरह चलने के बारे में और अन्य गतिविधियों के बारे में भी देख सकते हैं। तो फिर कैसे कहें कि इतने अलग-अलग तरह के बच्चे कक्षा-1 के मध्य तक या अन्त तक इतना-इतना सीख ही लेंगे। सारे परीक्षण इस तरह की परिकल्पना पर आधारित हैं। हम यह तो नहीं समझते कि बच्चे कौन-से रास्तों से और कितने समय में और क्या-क्या सीखते हैं पर शायद यह ज़रूर जानते हैं कि यह रास्ते एक-से नहीं होते, परन्तु फिर जाने क्यों परीक्षणों के सन्दर्भ में यह भूल जाते हैं। पाठ्यक्रम की रचना हमेशा एक चुनौती वाला कार्य है, ख़ासतौर पर तब जब हमारे परीक्षणों के परिणाम यही बताएँ कि बच्चों को क्या नहीं आता या वह कितना पीछे हैं। इससे क्या करना चाहिए और कैसे पर कुछ समझ नहीं मिलती क्योंकि हम यह नहीं जानते कि उन्हें क्या समझना व करना आ गया है। इस मुद्दे को हम यहीं छोड़ते हैं क्योंकि यह अपने आप में बहुत बड़ा मुद्दा है। इन परीक्षणों की कल्पना व रचना में बड़े गैप हैं।

हम यहाँ पर एक-दो की ही बात करेंगे। सबसे पहला है, पढ़ना आता है या नहीं। 'पढ़ना आया या नहीं' के लिए परीक्षणों का विश्लेषण करते समय आपको यह सोचना पड़ेगा कि पढ़ने का अर्थ क्या है? क्या पढ़ना अक्षर या शब्द पहचानना है? इसके सीखने का क्रम क्या है? कोई क्रम है भी या नहीं? क्या इस क्षमता को मापने के लिए उपयोगी तरीक़ा उसकी क्षमता का ठीक-ठाक आकलन कर सकता है? इसी तरह से बाक़ी सभी मसले हैं। इनके बड़े स्तर पर आकलन में इसी तरह के सवाल हैं कि हम जिसका आकलन करना चाहते हैं क्या हम उसे समझते हैं? क्या हम उस तक पहुँचने के रास्ते को जानते हैं? जब तक हम इन प्रश्नों पर विचार नहीं करेंगे कि पढ़ने का अर्थ क्या है, गणित का अर्थ क्या है, विज्ञान का अर्थ क्या है, तब तक हम यह भी आँक नहीं सकते कि हम जो अभी आकलन की प्रक्रिया कर रहे हैं वह कैसी है। क्या वह उपयुक्त व पर्याप्त है या हम शिक्षा को बहुत सीमित कर रहे हैं ? मैं तो सिर्फ़ अभी यहाँ किताब के ज्ञान के सन्दर्भ की बात ही कर रहा हूँ कि उसको भी हम सीमित कर देते हैं। मैं उस ज्ञान की बात नहीं कर रहा हूँ जो सामाजिक रूप से बहुत ज़रूरी है देश के लिए, समाज के लिए। उस ज्ञान का तो आकलन करने का हमने सोचा ही नहीं है; कि जो बच्चे स्कूल में एक साथ बैठते हैं, एक-दूसरे से लड़ते हैं, एक-दूसरे के साथ खेलते हैं, वह क्या सीखते हैं।

सीखने की ऊर्जा है प्रोत्साहन

हम अगर अपने बचपन को याद करें तो हमें यह समझ में आएगा कि अपने पूरे जीवन का रहस्य हमने साथियों के साथ खेलकर, उनके साथ उठ-बैठकर, उनके साथ झगड़ों में जाना है। अतः स्कूल का महत्त्व हम कब ठीक से पहचानेंगे और समझेंगे– कि स्कूल सिर्फ़ अक्षर और अंक तक सीमित नहीं है और इसीलिए, सरकारी स्कूल की भूमिका, बाक़ी अन्य स्कूलों से अलग है। वह सिर्फ़ खेल का मैदान नहीं है बल्कि वह एक अलग तरह के साथ का मौक़ा देता है।

कल ही मैं एक बच्चे की कहानी पढ़ रहा था। एक शिक्षिका बच्चों को पेंटिंग सिखा रही थी। शिक्षिका ने कहा कि चलो सब चित्र बनाओ, सबने चित्र बनाए। इस बच्चे ने भी खूब रंग लगाए, उसकी कलम टूट गई फिर भी उसने सब रंगों को मिलाकर चित्र बनाया, पूरे रंग हाथ से भी फैला दिए। फिर शिक्षिका ने कहा, 'चलो, सब अपने चित्र बोर्ड पर लगा दो।' सभी चित्र बोर्ड पर लगाए गए। वहाँ उसका चित्र देखकर सारे बच्चे हँसने लगे। शिक्षिका उसके चित्र के पास गई। उसे ध्यान से देखा और चित्र के उन सारे हिस्सों की तारीफ़ की जिन हिस्सों में उसने रंग फैलाया था। शिक्षिका ने समझाया कि कैसे यह एक रंग के शेड्स का इस्तेमाल दिखाता है, इससे क्या छवि मिलती है। कहानी कहती है कि, बच्चे पर, ऐसा असर पड़ा कि उसने हर

चीज़ में मन लगाना शुरू कर दिया। यह सिर्फ़ बच्चों के लिए ज़रूरी नहीं है, हमारे अपने और साथियों के साथ संवाद करने और एक-दूसरे के साथ बात करने में भी ज़रूरी है।

हर एक इंसान को अच्छा सुनने की ज़रूरत होती है, बच्चे को भी होती है, शिक्षक को भी होती है, हमें भी होती है। अगर आपकी झूठी तारीफ़ हो तो आपको पता भी लगता है कि झूठी तारीफ़ हो रही है। लेकिन उस झूठी तारीफ़ को सुनकर आप उसे सही करने की कोशिश करते हैं। मूल बात यह है कि हम केवल वही पकड़ें जो थोड़ा-सा ग़लत है, जो थोड़ा-सा ख़राब हो गया है और ज़्यादा बात उसी की करें तो गुस्सा आता है, बहुत बुरा लगता है। जैसे दस चीज़ें बनीं या चार चीज़ें बनीं और एक कुछ ठीक नहीं थी, पर रोज़ तो अच्छी बन रही हैं, आज ही थोड़ी प्रोब्लम हो गई, रोज़ तो तारीफ़ भी नहीं होती, लेकिन आज बस आलोचना ही मिली। यह जो मसला है, यह बच्चों के साथ तो है ही पर यह हर शिक्षक के साथ भी है; एक दिन थोड़े-से लेट हो गए, एक दिन थोड़ी-सी गड़बड़ हो गई, तो आप उसकी बात ज़्यादा करेंगे या उस दिन की बात करेंगे जब उन्होंने अच्छा किया? चूँकि अच्छे की बात करते हैं तो जिस दिन अच्छा नहीं हुआ उसकी बात साथ-साथ बिना कहे ही हो जाती है। इसलिए हो जाती है, क्योंकि आज आपने अच्छा किया तो इसका मतलब कि कल या हर रोज़ तो आपने उतना अच्छा नहीं किया। तो अच्छा आप कर सकते हैं यह बात भी सामने हो जाती है।

मेरा मानना है कि हम सभी जो प्राचार्य की भूमिका में हैं, नेतृत्व की भूमिका में हैं उनके लिए यह सब जानना बहुत ज़रूरी है। जो सीनियर शिक्षक हैं उनके लिए भी बहुत ज़रूरी है कि अपने साथियों से कैसे सीखें।

अच्छा स्कूल : मापदण्ड क्या हों ? कैसे तय हों ?

एक और चीज़ है, जिसपर बात करने की आवश्यकता है। वह यह है कि हम यह सोचने की कोशिश करें कि हम अच्छा स्कूल किसे मानें? शायद इस पर सहमति होना मुश्किल है। लेकिन कुछ मोटी बातें हैं जिनपर सहमति हो सकती है। एक तो हम यह कहते हैं कि स्कूल ऐसा चाहिए जो रोज़ समय पर शुरू हो। कम-से-कम इतना तो होना चाहिए कि स्कूल शुरू हो, और पूरा समय लगे और दूसरा यह कि पढ़ाई हो, सभी कक्षाओं में पढ़ाई हो।

लेकिन फिर सवाल यह है कि पढ़ाई क्या है? किसे हम कहेंगे कि पढ़ाई हो रही है? छात्र व शिक्षकों की उपस्थिति को ही, कुछ किताबों के पढ़ने को, कुछ बोर्ड से नक़ल करने को या फिर और भी कुछ। पढ़ाई का अर्थ क्या है, इस पर बात करने की ज़रूरत है। एक ही पहलू देखें। अगर पढ़ाई का मतलब है पाठ्यपुस्तक पढ़ना तो शायद अधूरा होगा। हम अकसर बात करते हैं कि पढ़ाई पाठ्यपुस्तक तक सीमित नहीं होनी चाहिए। सवाल यह है कि पाठ्यपुस्तक तक सीमित नहीं होने का क्या अर्थ है?

इस सवाल के बारे में सोचना पड़ेगा, और फिर सोचना पड़ेगा कि अगर कक्षा में कोई शिक्षक कविताएँ गा रहा है, तो शिक्षा हो रही है कि नहीं। हमारा क्या रवैया है इस बारे में। अगर एक सामाजिक अध्ययन के शिक्षक ने कहा कि भई आज हम किताब नहीं पढ़ेंगे। आज आप, जहाँ-जहाँ यात्रा पर गए थे, उसका चित्र बनाइए, आपने वहाँ क्या-क्या देखा उसके बारे में पाँच लाइनें लिखिए। इस कक्षा में सामाजिक अध्ययन की शिक्षा हुई या नहीं? मैं सिर्फ़ उदाहरण दे रहा हूँ। हम ऐसे और उदाहरण सोचेंगे व अपने शिक्षकों को ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित करेंगे तब हम पाठ्यपुस्तक से पार पा सकते हैं और उससे बाहर आ सकते हैं। लेकिन एक और समस्या है, हम अकसर व्यक्त करते रहते हैं कि पाठ्यक्रम कैसे कवर होगा, तो यह बहुत बड़ी समस्या है। मुझे कृष्णकुमार (भूतपूर्व डायरेक्टर, एनसीईआरटी) की कही एक बात याद आती है। एक ऐसे बहस-मुबाहिसा में उनका कहना था

कि सवाल पाठ्यक्रम को कवर करने का नहीं है, सवाल पाठ्यक्रम को अन-कवर करने का है। जब तक बच्चे के सामने पाठ्यक्रम के मसले अन-कवर नहीं होंगे तब तक वह सीखेगा नहीं। मतलब वह पर्दा जो पाठ्यक्रम में शामिल सारी धारणाओं पर पड़ा है, उस पर्दे को हटा दीजिए। उस पर्दे को हटाने के लिए यह ज़रूरी है कि पाठ्यक्रम सिर्फ पूरा न किया जाए, बल्कि बच्चों को इस पाठ्यक्रम में शामिल अवधारणाओं को खोलने के, उनसे जूझने के, उन पर सवाल करने के अवसर दिए जाएँ। यह पाठ्यक्रम के विश्लेषण का बिलकुल फ़र्क़ नज़रिया है कि हमें पाठ्यक्रम कवर नहीं करना है, किताब पूरी नहीं करनी है। किताब तो शुरुआत है। शिक्षा का उद्देश्य उस किताब को पूरा करना नहीं है, असल में तो किताब कभी पूरी नहीं होगी। वह हमेशा अन-कवर होती रहेगी, उसकी परतें खुलती रहेंगी। जैसे ज़िन्दगी की परतें खुलती हैं, जैसे किसी रचना, कथन के अर्थ की परतें खुलती हैं वैसे ही पाठ्यपुस्तक की अवधारणाएँ भी हैं, उनकी परतें खुलती रहती हैं। अतः यह ज़रूरी है कि बच्चे उन परतों को खोलना सीखें और फिर स्वतंत्र रूप से ख़ुद उसमें जाना शुरू करें। शिक्षक की, स्कूल की, यह ज़िम्मेदारी है वह उस रास्ते में बच्चे को ले जाए जहाँ वह अपने आप नहीं जा सकता। क्योंकि बाक़ी सारी चीज़ें तो वह घर में सीख ही लेता है। जो वह नहीं सीखता है वह है औपचारिक रूप से सोचना-समझना, तर्क करना और उन तर्कों को आगे बढ़ाना। अगर हमने एक बार यह शुरू कर दिया तो फिर बाक़ी की सोच में, सबमें, बच्चा आप पर आश्रित रहे, ऐसा ज़रूरी नहीं है। एक बार आपने किताब पढ़ना सीख ली तो पचास किताबें पढ़ने से कोई आपको रोक नहीं सकता। अगर ज़बरदस्ती आपको एक ही किताब को पूरा करवा दिया गया और आपने ख़ुद से पढ़ना नहीं सीखा, तो फिर आप उस किताब को भी पूरा नहीं कर सके क्योंकि वह भी आपके पास नहीं रहेगी।

मुझे लगता है यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण मसला है स्कूल के सामने, शिक्षक के सामने और प्राचार्य के सामने कि उसके लिए बच्चों को सक्षम पाठक, सक्षम सोचने वाला, सक्षम सीखने वाला बनाने का अर्थ क्या है? यह हर शिक्षक को सोचना होगा, डिस्कवर करना होगा कि वह यह कैसे कर पाएगा। जैसे वह वास्तव में किस विषय में, किस मसले पर बच्चों को सोचने का, पढ़ने का मौक़ा दे सकता है और फिर उस मसले के लिए उसको मेहनत करके जगह बनानी पड़ेगी।

हम लोगों ने जब एनसीईआरटी के लिए गणित की किताब लिखी कक्षा छठवीं, सातवीं-आठवीं की तो कुछ बातों पर विचार किया गया, उनमें से एक थी– भाषा व पढ़ना। अकसर यह माना जाता है कि गणित की किताब में भाषा कम होनी चाहिए, क्योंकि भाषा बच्चों को भ्रम में डाल देती है। उनको तो सवाल करने हैं, सवाल आने के लिए, करने के लिए अगर भाषा कम हो तो कम पढ़ना पड़ेगा, और बच्चा सवाल जल्दी समझ लेगा। कम लिखेंगे तो शिक्षक को पढ़ाना कम होगा। सवाल हल करने के तरीक़े व गुर सिखाना जल्दी व आसानी से हो पाएगा। हम लोगों ने यह कहा कि हमारी किताबें ऐसी होनी चाहिए, जो बच्चे को पढ़कर समझ में आएँ। अगर हम ऐसी किताब लिख नहीं सकते, ऐसी गणित की किताब, जिसको बच्चा ख़ुद नहीं पढ़ सकता है तो हम बच्चे को गणित पढ़ने के लिए तैयार नहीं कर रहे हैं। उन सवालों को तो केलकुलेटर भी कर लेगा और अगर प्रोग्राम कर दो तो कम्प्यूटर तो और भी बहुत सारे सवाल कर लेगा। इससे यह प्रश्न उठता है कि सीखना क्या है?

सीखना क्या है ?

'पढ़ाई क्या है'? से ही सम्बन्धित सवाल है कि 'सीखना क्या है'? इंसान का बच्चा गणित (या कुछ और भी) सीख रहा है, तो वह सीख गया है ऐसा तब मानेंगे जब वह कोई नई चीज़ गढ़ सके, नए जुड़ाव देख सके। यानी सीखने का अर्थ है कुछ नया बना पाना, नए, फ़र्क़

नज़रिए से चीज़ों को देख पाना। अगर बच्चा नए सवाल बना सके, अगर बच्चा नए सवालों से जूझ सके, बच्चा ऐसे नए साधन बना सके, जिससे और भी चीज़ बना सके, और वह तरीक़ा/चीज़ प्रस्तुत कर सके, तब तो उसने गणित और कुछ विषय सीखा है, नहीं तो हम कम्प्यूटर, केलकुलेटर का रिप्लेसमेंट ही तैयार कर रहे हैं। उन्हें अपने विवेक व कुशलता से तरीक़ों/चीज़ों को इस्तेमाल करने वाला नहीं बना रहे। इस दृष्टि से हम लोगों ने किताब बनाई और कोशिश यही की कि किताब बच्चा स्वयं पढ़ पाए। उसमें ऐसा इंडिकेशन हो जिससे टीचर को सुझाव मिले और ऐसी जगह भी हो जहाँ बच्चों को ग्रुप में बाँटकर ख़ुद पढ़ने का, समझकर ख़ुद सवाल करने का अवसर हो। किताब भी आग्रह करे कि बच्चे ख़ुद भी सवाल बनाएँ और शिक्षक भी सवाल बनाएँ। अभी तक की बातचीत में दो बिन्दु ख़ास तौर से कहने की कोशिश थी पहला, जब तक शिक्षक स्वयं निर्माणशील नहीं होगा तब तक बच्चा निर्माणशील नहीं हो सकता और दूसरा, हमारी कक्षाओं में ऐसी परिस्थितियाँ बनाई जा सकती हैं जिनमें बच्चे ख़ुद पढ़कर समझें और निर्माणशील बनें।

गणित की किताब उनको कैसी लगती है? इसपर मैंने जितने बच्चों से बात की है, (बहुत सारे बच्चों से तो बात करने का मौक़ा नहीं मिला, क्योंकि मैं लेखन प्रक्रिया में शामिल व्यक्ति के रूप में बात नहीं कर रहा था।) उन्होंने कई बातें खुलकर बताईं। एक तो उन्होंने कहा कि 'उनके शिक्षकों को इस किताब में विश्वास नहीं है, वे किसी गुप्ता की किताब पसन्द करते हैं क्योंकि उसमें ऐसे सवाल हैं जो उनको लगता है परीक्षा में आएँगे।' दूसरा उन्होंने कहा 'किताब अच्छी है, लेकिन हमारे माता-पिता को लगता है कि इसमें तो गणित हुआ ही नहीं, क्योंकि जो चीज़ ख़ुद समझ में आ गई वह गणित कैसे हो सकती है।' यह जो विज्ञान, गणित, अँग्रेज़ी का रुतबा है, इस रुतबे के कारण भी दिक़्क़त है। इसे विडम्बना ही कहेंगे कि, स्कूली ज्ञान की जो बात समझ में आ जाए लोगों को लगता है वह महत्त्वपूर्ण नहीं है, वे उसे ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं जो बात समझ नहीं आती।

हम हर रोज़ तर्क इस्तेमाल करते हैं, गणित के तर्क इस्तेमाल करते हैं, लेकिन बच्चों को गणितीय कथन को जाँचना कैसे है, परखना कैसे है, सिद्ध करने का अर्थ क्या है, यह नहीं सिखाना चाहते। उनको बस वही बीस थ्योरम (प्रमेय), रटने हैं। हमारे ज़माने में तो हम बीस प्रमेय रटते थे। ऐसे प्रमेय जिनमें से यह समझना व सोचना बहुत मुश्किल होता था कि जब तक रटा न हो तब तक उसका हल कैसे निकलेगा। जो प्रूफ़ गणितज्ञ ने निर्माण किए हैं वह दसवीं क्लास का, ग्यारहवीं क्लास का बच्चा ख़ुद निकाल सके यह अपेक्षा नहीं हो सकती थी, पर और कोई कथन जाँच के लिए, सिद्ध करने के लिए हो सकते थे। हमारा पाठ्यक्रम बहुत व्यापक था। इसके बावजूद कोई ऐसा सवाल नहीं था जिसके बारे में यह अपेक्षा की जा सके कि दसवीं क्लास का बच्चा ख़ुद कर सकता है, अकेले न सही तो समूह में। असल में तो, ऐसे भी नए सवाल नहीं थे जो शिक्षक ही कर सकें। न सवाल थे, न उनकी तैयारी, तो किताब में ऐसी अपेक्षा न होना हमारे यहाँ किसी को अजीब नहीं लगता। विज्ञान की बात करें तो भी हम लोग विज्ञान में ऐसे प्रयोग देते हैं जो स्कूल में हो नहीं सकते और कक्षा में तो हो ही नहीं सकते। ऐसे बहुत से उदाहरण उपलब्ध हैं प्रयोगों के जो प्रशिक्षण में दिए जाते हैं, उनके लिए कुछ-कुछ सामग्री भी दी जाती है, लेकिन उनका पाठ्यपुस्तकों से, परीक्षा से वैसा जुड़ाव नहीं है जैसा होना चाहिए। उनमें से बहुत से तो हो ही नहीं सकते, कुछ बहुत ग़लत हैं जिन्हें सम्भव व सही बनाना होगा।

अतः अगर हम वास्तव में बच्चों को विज्ञान और गणित सिखाना चाहते हैं तो इनके प्रति दृष्टि बदलनी होगी। इस दृष्टि को बदलने की ज़िम्मेदारी किसकी है? मुझे लगता है इस दृष्टि को बदलने के लिए ज़िम्मेदारी हमारी स्वयं की हैं। यह ऐसी चीज़ नहीं है जो कमिश्नर तय करते हैं, सचिव तय करते हैं। यह विज्ञान और

गणित के अध्यापक और प्राचार्य तय करते हैं। सभी समितियों में जब आप पाठ्यक्रम बनाते हैं, और उन सभी जगहों पर जब आप पेपर का ब्लू प्रिंट बनाते हैं और पेपर बनाते हैं, वहाँ चाहे न चाहे यह मन में आ ही जाता है कि ऐसा प्रश्न जो थोड़ा-सा भी खुला है, जिसमें थोड़े-से भी विवेक की गुंजाइश है उसमें तो गड़बड़ हो जाएगी। सवाल ऐसा हो जिसका मात्र एक सत्य उत्तर हो। यानी ऐसे जो भी सवाल हैं, विश्लेषण के हैं, विचार के, कई उत्तर वाले या किसी भी मायने में फ़र्क़ हैं, नहीं हो सकते। जिस सवाल का एक ही उत्तर है, वह सवाल जानकारी का ही हो सकता है। जिन सवालों के कई उत्तर हो सकते हैं, वे ही सवाल हैं जो समझ जाँच सकते हैं। पर हमारी परीक्षाओं में, हमारे आकलन में ऐसे सवाल कभी नहीं आते हैं, क्योंकि हमें डर लगता है कि अगर यह सवाल दे दिया तो लोग मनमर्ज़ी करेंगे। मनमर्ज़ी तो वे फिर भी करते हैं क्योंकि हम चाहते हैं कि बच्चे आगे बढ़ें, पास हो जाएँ किसी तरह। लेकिन अगर हम बच्चों को, अपने अध्यापकों को, अपनी व्यवस्था को इस खुले मंच से सोचने का मौक़ा नहीं देंगे तो हम कैसे यह अपेक्षा करते हैं कि हमारा नागरिक एक खुली व्यवस्था में बात कर सकेगा, बहस कर सकेगा।

हम एक लोकतांत्रिक समाज हैं। हम यह चाहते हैं कि हमारा नागरिक अपने देश के लिए रास्ता तय कर सके, यह सोचने में मदद कर सके कि देश को आगे कैसे बढ़ना है।

यदि हम उनसे यही आग्रह करेंगे कि जो अपेक्षित उत्तर है वही हमेशा देना है और वह एक ही हो सकता है, तो फिर उसके लिए कुछ भी अपना सोचना बहुत मुश्किल है। हमारे शोधकर्ता अभ्यार्थी अच्छे-अच्छे अंक लेकर विदेशों में जाते हैं, कुछ आगे नहीं बढ़ पाते हैं क्योंकि उनकी ट्रेनिंग इसी तरह से हुई है। उन्हें लगता है वही उत्तर देना है जो आपने लिखाया था, आपने बताया था, उत्तर तो उन्हें बताया जाना चाहिए, उन्हें पता करने की आदत ही नहीं है। बहुत कठिन होता है जब यह सीखना पड़ता है। कहीं भी नए सवाल आ जाएँ इसकी तैयारी तो होती नहीं है। अगर हम शिक्षक-शिक्षा की गुणवत्ता की बात कर रहे हैं तो यह उसके लिए बहुत बड़ा प्रश्न है कि हम शिक्षा में करना क्या चाहते हैं?

शिक्षा की गुणवत्ता का यह प्रश्न इसलिए ज़रूरी है कि हम अपने लोकतंत्र, अपने संविधान, और उसमें अपने आप को किए वायदे-जिसमें यह वायदे हैं कि हम हरेक व्यक्ति को समाज में शामिल होने का मौक़ा देंगे, व्यवस्था में शामिल होने का मौक़ा देंगे, आगे बढ़ने का मौक़ा देंगे-के प्रति प्रतिबद्ध रहना चाहते हैं तो यह ज़रूरी है कि हम इस बात का एहसास करें। यह तभी हो सकता है जब अलग-अलग तरह की सोच, अलग-अलग तरह के उत्तर, अलग-अलग तरह की रचनाएँ सभी कक्षाओं में और परीक्षाओं में आ सकें। सोच व तर्क के सभी तरीक़ों के प्रति संवेदनशील होने की ज़रूरत है। किन्तु ऐसा भी नहीं है कि सभी उत्तर सही हैं और सभी का एक जैसा वज़न है। यह सही और ग़लत के बीच का पुल बहुत महत्त्व का है। बच्चों की ज़रूरतें, उनका परिवार व उसकी परिस्थिति, सोच का ढंग, बच्चे व उसके सीखने के प्रति दृष्टि सभी महत्त्वपूर्ण हैं। पर उन्हें ज्ञान की मानक कसौटियाँ सीखनी व समझनी भी हैं। यह एक मुश्किल मसला है, और इस मसले का कोई आपको आसान हल नहीं दे सकता। यह हर पल, हर क्षण कक्षा में बात करने, चर्चा करने का मसला है।

काम : बोझ या मज़ेदार अनुभव

स्कूल समय पर लगे और समय पर ही बन्द हो, यह कहने को आसान मसला है किन्तु यह भी मुश्किल है। लोग देर से आने में भी होड़ जैसी करते हैं। आप प्रधान अध्यापक के रूप में किसी एक को छूट देते हैं तो सभी माँगने लगते हैं। क्योंकि मसला यह भी है कि अगर आप किसी को भी ज़्यादा देंगे तो मैं भी आपसे ज़्यादा माँगूगा, आप देर से आएँगे तो मैं भी देर से आऊँगा। फिर आपसी समझ की संस्कृति का

विकास कैसे हो, कि जो लोग जल्दी आ सकते हैं जल्दी आएँ, और जो लोग जल्दी नहीं आ सकते उनके बारे में लोग मान लें कि उनको थोड़ी छूट है। यही आपके नेतृत्व की भूमिका है, क्योंकि इसके अलावा कोई विकल्प नहीं है। यह दो तथ्य तो हैं ही, इनको हम बदल नहीं सकते। कुछ लोगों की परिस्थिति कठिन है और लोग होड़ करेंगे, तो क्या बदल सकते हैं? एक बात जिसका प्रयास हो सकता है वह यह है कि हम इसके बारे में लोगों की मान्यताएँ बदलने का प्रयास कर सकते हैं। वह कैसे होगा, यही हमें सोचना है। प्राचार्य के रूप में यह हमारे लिए सबसे मुश्किल काम होता है कि लोगों में सामंजस्य बने, उनके आपस की नकारात्मक प्रतियोगिता कम हो। यह कैसे होगा, हम कैसे इसे ऐसी संस्कृति में बदलें कि कोई नाराज़ न हो। यह सबसे बड़ी चुनौती है जो किसी भी नेतृत्व के सामने होती है। कैसे इस होड़ की दिशा बदली जाए। होड़ की दिशा ऐसी हो जिसमें कम करने के बजाय ज़्यादा करने की लगन हो। आप देखेंगे कि बच्चे जब घर में कुछ काम करते हैं, कोई उत्सव होता है तो उसमें बच्चे भी, बड़े भी सब होड़ में होते है कि मैं कर दूँ, मैं कर दूँ, मैं कर दूँ। जब किसी सामूहिक जगह पर लोग इकट्ठा होते हैं तो वहाँ भी कई लोगों का आपस में झगड़ा होता है, ऐसा लगता है कि ज़्यादा करने की होड़ हो। लोग यही कहने लगते हैं, 'जाओ, पहले तुम जाओ, खाना खाओ, मैं करता हूँ, मैं कर देता हूँ। यह जो है हमारे उत्सवों में, बहुत बार घर में भी दिखता है। बाहर तो कई बार हम ऐसा करते हैं, सब ही करते हैं। किन्तु स्कूल में हम जिसको काम मानते हैं, उसमें नहीं करना चाहते।

एक कहानी है, आप सबने बचपन में सुनी होगी। टॉम सायर नाम का एक लड़का था। बचपन से ही बड़ा शैतान था जैसे बच्चे होते हैं, शायद होना चाहिए भी कुछ हद तक। उसको सज़ा दी गई कि आज जब सब बच्चे खेलने जाएँगे, तब वह नहीं जाएगा और दीवार की पुताई करेगा। उसने सोचा 'मर गए।' ख़ैर, उसने शुरू किया और फिर जब उसने थोड़ा-सा हाथ लगाया तो बोर हो गया। बैठ गया, दुःखी हुआ और फिर उसे कुछ सूझा। जैसे ही दोस्त आना शुरू हुए, वह बड़ी तन्मयता से काम में लग गया। उसका सब मज़ाक उड़ाने लगे, 'अच्छा, यह काम कर रहे हो। करो बच्चू करो, हम तो मेले में जा रहे हैं।' टॉम जैसे बहुत ही तल्लीन हो, उनकी अनसुनी, अनदेखी कर लगा रहा। अब बाक़ी बच्चे धीरे-धीरे रुकने लगे। टॉम तो मानो वहाँ था ही नहीं। सभी उसे देखने लगे थे। उन्होंने पूछा, 'क्या कर रहे हो?' दो-चार बार पूछने के बाद मानो टॉम चौंककर उठा हो। बोला, 'अरे अरे जाओ, मेले जाओ, जो मर्ज़ी करो, आज मुझे मौक़ा मिला है पेंट करने का। मैं जैसे मर्ज़ी चाहूँ ब्रश चला सकता हूँ।' उन्होंने कहा, 'हमें भी करने दो।' टॉम बोला, 'नहीं, ऐसे कैसे करने दूँ?' मोटी बात यह है कि उसने सबपर टैक्स लगा दिया। इतना टाइम पेंट करोगे तो उसका इतना दाम है। कोई उसे सुन्दर पत्थर दे गया, कोई अपना कंचा दे गया और सबने लाइन लगाकर पूरी दीवार भी रंग दी और यह बैठे हैं आराम से। उनको सुझाव देते गए, उनपर रोब डालते गए, काम में ग़लती निकालते गए और बताते गए कि ऐसा करो... वैसा करो। यहाँ टॉम ने काम को प्रतियोगिता में बदल दिया। यह कहानी है, वैसे तो अच्छी लगती है पर इसको व्यवहार में लाना मुश्किल लगता है। सवाल यह है कि कैसे हम अपने साथियों के साथ एक संस्कृति विकसित कर दें, जिसमें बच्चे, शिक्षक और आप, जो स्कूल का काम है, जो ज़रूरी है, जैसे घर के काम ज़रूरी होते हैं, उसे मिल-बाँटकर ऐसे करें कि किसी को ऐसा न लगे कि मैं ज़्यादा कर रहा हूँ या मैं कम कर रहा हूँ। इसमें मैं आपको कोई सुझाव, शार्टकट या टिप तो दे नहीं सकता, मैं शायद यह बता सकता हूँ कि मैं कैसे कर सकता हूँ पर वह भी अलग-अलग सन्दर्भो में बदल जाएगा। हरेक को यह रास्ता खोजना होगा।

तो, हम क्या कर सकते हैं?

समय पर स्कूल आने में एक और पहलू है, बच्चों का समय पर आना।

बच्चों को यह तो स्पष्ट हो कि समय पर स्कूल आना ज़रूरी है, पर उसपर कोई बड़ा बवण्डर खड़ा न किया जाए, लेकिन छोटा-मोटा बवण्डर तो खड़ा करना पड़ेगा, नहीं तो वह कहने लगेंगे कि यहाँ तो सब चलता है। सब नहीं चलेगा, यह एहसास हो।

हमारे टीचर पहले आ गए, हमारी प्राचार्या पहले आ गईं, सबसे पहले वह आकर बैठी हैं। सफ़ाई हो गई, कैसी भी हुई। कोई करने वाला है या सबने मिल-जुलकर की। कोई नियम है, व्यवस्था है, एक क्रमबद्धता का माहौल है, तो एक सिस्टम अच्छे से काम कर रहा है। आप एक ऐसे प्लेटफ़ार्म पर जाएँ जो साफ़ है तो आप रद्दी काग़ज़ को मुट्ठी में दबाते है, फेंकते नहीं। और अगर सब तरफ़ कचरा है तो आप भी फेंक देते हैं। एक बुनियादी ढाँचा जो बुनियादी तौर पर काम कर रहा है उस ढाँचे को ख़राब करने में लोगों को थोड़ा संकोच होता है। जो ऐसे ही चल रहा है तो उसमें तो फिर कुछ भी चलेगा, उसे और ख़राब करने के लिए। जब आप नए स्कूल में जाते हैं तो आप ऐसे ही देखते हैं और एक नज़र में तय कर लेते हैं। बाहर से आने वाले के लिए एक ऐसी छवि, ऐसी संस्कृति, ऐसा माहौल पेश करना ज़रूरी है कि वह एक व्यवस्थित काम करने वाला स्कूल व एक स्वस्थ ढाँचा लगे। कैसे कुछ चीज़ें हम लोग मानें कि- स्कूल साफ़ रहेगा, बाथरूम साफ़ रहेगा, साफ़-सफ़ाई रहेगी, स्कूल की घण्टी समय से बजेगी, बच्चे क्लास में बैठेंगे, जो बाहर घूमेंगे वह काम से घूमेंगे। यह जो तस्वीर बनानी है, संस्कृति निर्मित करनी है यह सबसे मुश्किल काम है। पर एक बार यह बस जाए, रम जाए, चालू हो जाए तो फिर इसको बनाए रखना मुश्किल नहीं होता। लेकिन कल्चर को बनाना सबसे मुश्किल काम है। बहुत सारे मसलों पर जहाँ पालकों के साथ स्कूल का सम्बन्ध बहुत अच्छा नहीं है और शायद पालकों की समझ स्पष्ट व सहानुभूति वाली नहीं है तो यह और भी मुश्किल हो जाता है। क्योंकि स्कूल समाज का एक हिस्सा है, जहाँ भी, जिस भी समाज में वह स्थित है, समाज से उसका रिश्ता है, उसका समाज पर प्रभाव है और फिर स्कूल भी उसी रिश्ते से प्रभावित भी है और ग्रस्त भी है। इस रिश्ते को समझना आवश्यक है दोनों ओर से। एमएलए साहब स्कूल में आए तो यह मानकर आएँगे कि स्कूल के फ़ायदे के लिए कुछ बात करेंगे, कुछ माँग लेकर नहीं। माँग लेकर ही आए तो मुश्किल होगा। और कोई मेरे जैसा समाज का प्रभावी प्रोफ़ेसरनुमा सदस्य आकर कहे कि यह आपने कैसे कर दिया? तो उससे भी बात करने के लिए हम लोगों के पास प्रभावी कारण तभी होंगे जब हमारा ढाँचा अपने आप में, ख़ुद में व्यवस्थित होगा। इसके लिए महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यवस्थित रूप से काम करते ढाँचे के विभिन्न हिस्सों के बारे में कुछ बुनियादी सहमति हो। जैसे स्कूल समय पर लगे, समय पर बन्द हो, पीरियड लगें, शिक्षक क्लास में जाएँ। इसे करने के लिए सहमति, सहकार और सौहार्द तीनों चाहिए। इतना अगर हो जाए तो भी चलेगा लेकिन यह सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि यह कैसे इस्टेबलिश होगा कि स्कूल का मतलब यह है?

ज़रूरी है सभी की भागीदारी

आजकल राष्ट्र की बहुत बात हो रही है। उसके प्रति चिन्ता और उसके प्रति एक आस्था व विश्वास बनाने में स्कूल की भूमिका देखी जाती है। परन्तु राष्ट्र को भी सब लोग अलग-अलग देखते हैं। कोई यह सोचेगा कि गणित के सवालों के उत्तर उतने ज़रूरी नहीं है जितना यह ज़रूरी है कि हर बच्चा एक अच्छा नागरिक बने। इसके अलावा स्कूल से क्या-क्या अपेक्षाएँ हैं इस बारे में सोचने पर बहुत-सी बातों में बहुत अलग-अलग तरह के रास्ते दिखाई देते हैं। जैसे अगर अपेक्षा यह है कि इंजीनियर और डॉक्टर बनाने हैं या आईएएस बनाने हैं तो चूँकि पद सीमित हैं, आईएएस के पद तो और भी सीमित हैं, तो कड़ी प्रतिस्पर्धा चाहिए। यह चाहिए कि सब बच्चे लगातार बेहतर, और बेहतर करने की कोशिश करें। यह अलग बात है कि जो आईएएस बनता है, ज़रूरी नहीं कि वह कड़ी प्रतिस्पर्धा में विश्वास करता हो, या कड़ी प्रतिस्पर्धा करता

हो, लेकिन जो उनको तैयार करने का तरीक़ा है वह तो वैसा ही होगा न। इंजीनियर बनने के लिए आईआईटी की तैयारी हो या फिर आईएएस की तैयारी, इन सब के लिए ख़ासतौर पर उस तरह की कोचिंग करेंगे। दूसरा रास्ता आपको यह कहता है कि हमें इंसान को यह समझना सिखाना है कि वह लोगों के साथ रह सके, उसमें सबसे ज़्यादा ज़रूरी है करुणा सिखाना, औरों को समझना व उनका सम्मान करना। यह ज़्यादा ज़रूरी है। महत्त्व इस बात का है कि आप अपने साथी की मदद कर पाएँ, उसके साथ बैठें, उसको मौक़ा दें समझने का ताकि वह आगे बढ़ पाए। जब आप कक्षाओं में ऐसा काम करें तो मिलकर करें। घर में जाकर माँ की, पिताजी की, आस-पास के लोगों की मदद करें, किताब को याद करने में न फँसे रहें। यानी आपकी दृष्टि ही अगर साफ़ नहीं है कि स्कूल के तौर पर आप क्या करना चाहते हैं, तो मुश्किल है। अगर आप इस बात पर ज़ोर देते हैं कि हर बच्चा महज़ एक परीक्षा की तैयारी के अनुसार अच्छा करे तो कई चीज़ें छूट जाएगी। अतः आप जो भी तय करें उसमें एक ऐसा सन्तुलन हो जिसके लिए आपके पास दृष्टि हो, तर्क हों, और उसमें आपको विश्वास हो। इसके अलावा एक और बात यह कि इस बात को आप नहीं भूलेंगे कि यह आपका स्कूल है और आपका एजेंडा है। आप एजेंडा में परिस्थिति अनुसार, अपने विश्वास के दायरे में संशोधन कर सकते हैं। लेकिन आप यह कभी नहीं कहेंगे कि यार यह स्कूल कैसा चल रहा है। पता नहीं क्या हो गया, मैं तो चला ही नहीं पा रही हूँ। दूसरा यह कि, शिक्षक, बच्चे और पालक उतने ही बड़े स्टेकहोल्डर हैं, जितने कि प्राचार्य। स्कूल सिर्फ़ हम नहीं चला रहे हैं, वह भी चला रहे हैं। अगर स्कूल में कुछ भी परिवर्तन करना है, सुधार होना है तो इन सबकी भागीदारी होना भी बहुत ज़रूरी है। सहमति ज़रूरी नहीं है, भागीदारी ज़रूरी है। दोनों में अन्तर है। यह ज़रूरी नहीं कि सबके सब लोग हर बात पर सहमत हों, वे होंगे भी नहीं। अगर प्राचार्य हर मसले और हर बात पर एक कमेटी बिठाते हों कि आप लोग ही सोचें कि क्या करना है, तो नहीं चलेगा। करना तो यही होगा कि हम तय करें कि क्या करना है। हमारी ज़िम्मेदारी है स्कूल को चलाने की तो हम इसको ऐसे चलाना चाहते हैं, यह हमारे लम्बे समय की दृष्टि है और इसमें यह सुनिश्चित करें कि लोगों की भागीदारी हो और विश्वास हो। सभी का नहीं पर ज़्यादातर का। ज़ाहिर है उसमें कुछ लोग ख़फ़ा होंगे, कुछ लोग परेशान होंगे। उन ख़फ़ा लोगों से, परेशान लोगों से बात करने का हमारे पास धैर्य होना चाहिए, कोई भी और मंत्र काम नहीं करेगा। बस यही मंत्र कि मैं स्कूल को बेहतर करना चाहता हूँ। सरकारी स्कूल का जो ज़िम्मा मुझे मिला है, यह इस देश का बहुत महत्त्वपूर्ण काम है। कोई माने या न माने मैं मानती हूँ और मैं यह करके रहूँगी, जैसे बच्चा ज़िद कर लेता है कि मैं यह करके ही रहूँगा, आप कैसे भी रोको।

बदलाव की ज़िद

एक तीन साल का बच्चा बहुत ज़िद करता है, नहीं मानता है। वैसी ही ज़िद कर लीजिए कि हम अपने स्कूल को ठीक करके ही रहेंगे। मेरा यह विश्वास है कि अगर आप ऐसी ज़िद करेंगे तो आपको विरोध की अपेक्षा ज़्यादा समर्थन मिलेगा। उसमें आपको जो दाम देना है वह है; आप समय पर आएँगे, आप पूरे उत्साह से काम करेंगे और आप धैर्य रखेंगे। बाक़ी इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। चूँकि जैसे बच्चा सब कुछ सीख लेता है वैसे ही वयस्क व्यक्ति भी जैसी परिस्थिति है उसमें सब कुछ सीख सकता है। मसला धैर्य का है। किसी को सिखाने की ज़रूरत नहीं है। ज़रूरत है सिर्फ़ यह तय करने की कि यह मैंने ठान लिया है और हम सब बहुत सारे ऐसे उदाहरण सुना सकते हैं जिसमें एक बार किसी शिक्षक ने या प्रधान पाठक ने ठान लिया तो उसने स्कूल को बिल्कुल बेहतर कर दिया। कई पीढ़ियों तक बच्चे उस स्कूल में पढ़े और उस समय को आज कई जगह रहते हुए भी याद रखते हैं।

मैं ऐसे ही एक स्कूल में था। हमारे स्कूल

के दो-चार टीचर और प्राचार्य महोदय ने उस समय यह ठान लिया था कि वे स्कूल को बेहतर बनाकर रहेंगे। उनसे ही मैंने यह थोड़े-बहुत गुर सीखे हैं। एक बार उन्होंने स्कूल में काम्पटीशन किया। काम्पटीशन था कि हर क्लास, पूरी कक्षा और टीचर (यानी क्लास टीचर) मिलकर कक्षा-कक्ष को साफ करेंगे, उसके आस-पास के वराण्डे को साफ़ करेंगे। उसमें जो मर्ज़ी करें और यह सुनिश्चित करेंगे कि जिस दिन इन्फेक्शन होगा उस दिन सभी बच्चे नहाकर, साफ़ कपड़े पहनकर, बाल बनाकर आएँगे।

हमारी कक्षा में ऐसे भी बच्चे थे जिनको यह कहने की ज़रूरत थी कि उनके कान साफ़ होंगे, उनकी आँखें साफ़ होंगी, कपड़े साफ़ होंगे। यह एक सामूहिक कक्षा का कार्य था। एक दिन हम लोगों ने झाड़ू लगाई थी, मतलब जिन लोगों ने कभी झाड़ू नहीं लगाई थी उन्होंने भी कोशिश की, ...सफ़ाई में मदद की। फिर हम लोगों में से कुछ ने तय किया कि हम चूना लाएँगे और तब हम लोगों ने टॉम सायर की तरह पूरे कमरे की सफ़ेदी की, जहाँ तक हम पहुँच सकते थे। ख़ूब काम्पटीशन हुआ, कौन करेगा, मुझे लगता है बाक़ी सभी में भी कुछ हुआ होगा (बाक़ी कक्षाओं का मुझे पता नहीं, आज होता तो वहाँ पूछता बाक़ी बच्चों ने क्या किया?)। उसके बाद से हमारी कक्षा का माहौल बहुत बदल गया। हमारी आपसी दोस्ती, हमारा शिक्षकों के साथ सम्बन्ध बहुत बदल गया। जब इंस्पेक्टर आए तो हम यह बिल्कुल तय कर बैठे थे कि हम कुछ भी कमी नहीं रहने देंगे। यह 1968 के अन्त या 1969 की बात होगी, पर यह अनुभव मुझे आज भी याद है। जो इस तरह की चीज़ें हैं, वे सभी बच्चों पर बहुत गहरा असर डालती हैं। इसमें शायद स्कूल को ज़्यादा इन्वेस्मेंट (किसी तरह का निवेश) भी नहीं करना पड़ता है। मैं यह नहीं कह रहा कि सब प्राचार्य इसे करना चाहें और कर पाएँ भी। हो सकता है कि यदि मैं प्राचार्य हूँ और इसमें मेरा विश्वास और आत्मविश्वास न हो तो मैं शायद यह कर ही न पाऊँ, मुझे कुछ और सोचना पड़े। लेकिन यह जो काम है उसको इसी तरह से किसी अन्य रास्ते से भी किया जा सकता है। मूल सवाल सभी में संस्था के प्रति अपनेपन व मिल्कियत की भावना लाने का व कार्य में रुचि पैदा करने का है।

मैं इसे इस प्रकार समेकित (समराइज़) करता हूँ, तीन मूल बातें मैंने कही हैं। यह तीन चीज़ें क्या हैं? पहली यह कि, एक लोकतंत्र में शिक्षा सभी के लिए बराबरी के मौक़े, न्याय, मानवीयता पैदा करने के लिए है। और इस विश्वास के साथ हमें प्रयास करना है कि हर बच्चा सीख सकता है और सीखता ही है। हालाँकि यह सीखना एक ही गति से नहीं होता। यह बात भी हमने की है कि शिक्षक के प्रति रवैया बिल्कुल दो विपरीत पालों के बीच झुक रहा है। उसको एक करने की ज़रूरत है, कहीं भी करें, उसको संतुलित करने की ज़रूरत है। तीसरा, हम गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की बात नहीं कर रहे हैं हम शिक्षा की बात कर रहे हैं। शिक्षा के पहले कुछ भी विशेषण लगाने की जरूरत नहीं। शिक्षा तभी शिक्षा है जब वह उपयोगी, बाँधने वाली हो। शिक्षा शब्द होते ही वह गुणवत्तापूर्ण प्रक्रिया हो जाती है; ऐसा अनुभव जिसमें यह गुण हो कि वह बच्चों को स्वतंत्र सीखने वाला बनाए, स्वतंत्र पाठक बनाए, सोचने वाला, विचार करने वाला बनाए। मसला है शिक्षा को गुणवत्तापूर्ण देने का, ऐसा कैसा प्रयास हो कि वह शिक्षा बच्चों तक पहुँच पाए जो उन्हें स्वतंत्र कर सके। इसके लिए प्रधान पाठक की भूमिका अहम है। उस अहम भूमिका में ठान लेना सबसे महत्त्वपूर्ण है। ठान लेना और विश्वास रखना अपने आप में, अपने स्कूल में और अपने साथियों में और इस बात में कि स्कूल को, सीखने को बेहतर किया जा सकता है।

हृदयकान्त दीवान शिक्षा के क्षेत्र में पिछले चार दशकों से कार्य कर रहे हैं। वे राज्य के शिक्षकीय ढाँचों में शैक्षिक नवाचार और परिवर्तन के प्रयासों से सम्बद्ध रहे हैं। एकलव्य के फॉउण्डिंग सदस्य रहे हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के अनुवाद पहल कार्यक्रम से जुड़े हैं।
सम्पर्क : hardy.dewan@gmail.com